

जलवायु परिवर्तन: सिर पर मंडरता खतरा

प्रमोद भार्गव

जलवायु परिवर्तन की भयावहता को प्रगट करने वाली वैज्ञानिकों की रिपोर्ट्स लगातार आ रही हैं। जिस तरह से प्राकृतिक आपदाओं की आवृत्ति बढ़ रही है, उससे साफ हो जाता है कि वैज्ञानिकों द्वारा दिए जा रहे खतरे के संकेत असंदिग्ध हैं। लिहाज़ा अंतर सरकारी समिति (आईपीसीसी) की ताज़ा रिपोर्ट पर गंभीरता से विचार करके जलवायु परिवर्तन के लिए ज़िम्मेदार कारकों पर अंकुश लगाने की कोशिशें नहीं की गईं तो दुनिया का तबाही की ओर बढ़ना तय है। रिपोर्ट में भी दर्शाया गया है कि समुद्र और वायुमंडल के तापमान में वृद्धि, वैश्विक वर्षा चक्र में बदलाव, हिमखंडों का पिघलना और समुद्र के जलस्तर में वृद्धि जलवायु परिवर्तन के ऐसे संकेत हैं, जो पृथ्वी को संकट में डाल सकते हैं।

इन खतरों के बढ़ने का प्रमुख कारण वह औद्योगिक-प्रौद्योगिक विकास है जो ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को लगातार बढ़ा रहा है, लेकिन इनकी कटौती के लिए कोई देश तैयार नहीं है। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव बान की मून ने यह रिपोर्ट जारी करते हुए नेताओं से आवाहन किया है कि दिसंबर 2014 में पेरु के शहर लीमा में जलवायु परिवर्तन के सिलसिले में जो बैठक प्रस्तावित है, उसमें इस मुद्दे के गतिरोध को तोड़ते हुए मुकाम तक पहुंचाएं।

193 विकसित और विकासशील देशों के उदारवादी चिंतन से जुड़े प्रतिनिधियों की अब तक हुई शिखर वार्ताओं के परिणामस्वरूप तय किए गए क्योटो प्रोटोकॉल में प्रस्तावित कार्बन उत्सर्जन में कमी को अमल में नहीं लाया जा सका है। और न ही विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों को हरित प्रौद्योगिकी की स्थापना सम्बंधी तकनीक दी गई है। लिहाज़ा संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में रची गई इस अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण संधि के कोई बाध्यकारी हल वैश्विक पंचायतों में नहीं निकल पा रहे हैं।

जलवायु परिवर्तन पर हुई पंचायतों को पृथ्वी बचाने के श्रेष्ठ अवसर के रूप में देखा जा रहा है। लेकिन कार्बन

उत्सर्जन में कटौती को लेकर विकसित और विकासशील देशों के अपने-अपने पूर्वाग्रह हैं। नतीजतन ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 20 प्रतिशत की कमी के लक्ष्य पर कोई सहमति नहीं बन पाती है। अमेरिका तथा उभरती अर्थव्यवस्थाओं वाले देश इस कटौती के लिए किसी बाध्यकारी संधि पर हस्ताक्षर करने को तैयार नहीं होते। भारत भी इस मुद्दे पर अपने औद्योगिक व आर्थिक हितों का पूरा ख्याल रखता है।

इसीलिए भारत भी ग्रीन हाउस गैसों पर नियंत्रण से जुड़े तीन प्रमुख मुद्दों पर असहमति जताता रहा है, जो उसके औद्योगिक हितों पर कुठाराघात करने वाले हैं। ये हैं कार्बन उत्सर्जन में कटौती के लिए कानूनी रूप से बाध्यकारी अंतर्राष्ट्रीय लक्ष्य, कार्बन उत्सर्जन कम करने के लिए किसी राष्ट्रीय कार्यवाई की अंतर्राष्ट्रीय जांच और कार्बन उत्सर्जन कम करने के लिए कोई बंधनकारी शर्त। दरअसल भारत सरकार ने ये शर्तें इसलिए सामने रखी थीं क्योंकि भारत को विकसित देशों से यह उम्मीद नहीं थी कि वे ज़रूरी आर्थिक मदद के साथ कार्बन उत्सर्जन नियंत्रण प्रौद्योगिकी उपलब्ध कराएंगे। यह आशंका उस वक्त सटीक सबित हुई जब विकसित देश कोपेनहेगन के विश्वस्तरीय पर्यावरण सम्मेलन में क्योटो प्रोटोकॉल को ही दरकिनार करने के मंसूबे जाहिर करने लगे थे। धनी देशों की गरीब देशों को धोखे में डालने वाली इस मंशा के मसौदे का खुलासा ब्रिटेन के अखबार *गार्जियन* ने किया था। मसौदे में विकासशील देशों को हिदायत दी गई थी कि वे वर्ष 2050 तक प्रति व्यक्ति मात्र 1.44 टन कार्बन से अधिक उत्सर्जन न करने पर सहमत हों, जबकि विकसित देशों के लिए यह सीमा 2.67 टन तय की गई थी।

इस धोखाधड़ी का खुलासा होने से पूर्व जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय समिति, आईपीसीसी के अध्यक्ष राजेन्द्र पचौरी ने पहले ही आगाह किया था कि 1990 के स्तर से महज़ तीन प्रतिशत कटौती के अमेरिकी

लक्ष्य के कारण संधि का पालन मुश्किल होगा, और औद्योगिक देशों से ज़्यादा कटौती की अपेक्षा की जानी चाहिए। आईपीसीसी ने 2007 में ही चेता दिया था कि 2020 तक 1990 के ग्रीन हाउस उत्सर्जन की तुलना में 25 से 40 प्रतिशत तक की कमी लाकर प्राकृतिक आपदाओं (सूखा, बाढ़ और समुद्र के बढ़ते जलस्तर) को कम किया जा सकता है। लेकिन इन चेतावनियों को कोई भी देश सुनने को तैयार नहीं है।

क्योटो संधि के प्रारूप के अनुकूल पर्यावरण के लिए अहितकारी गैसों के उत्सर्जन में कटौती के बारे में विकसित और विकासशील देशों के समूहों के बीच आम सहमति की बात तो दूर, एक सर्वसम्मत राजनैतिक वक्तव्य पेश करने के सुझाव पर भी गहरे मतभेद उभरकर सामने आ गए थे। जापान, कनाडा, न्यूज़ीलैंड और हॉलैंड जैसे औद्योगिक देशों का प्रबल आग्रह था कि कार्बन उत्सर्जन में कटौती के लिए सभी देशों के लिए एक ही सशर्त आचार संहिता लागू हो। विकासशील देशों ने इस शर्त को सिरे से खारिज कर दिया था। इन देशों का वाजिब तर्क यह था कि विकसित देश अपना औद्योगिक-प्रौद्योगिक प्रभुत्व व आर्थिक समृद्धि बनाए रखने के लिए ज़बरदस्त ऊर्जा का इस्तेमाल कर रहे हैं। इसके अलावा ये देश व्यक्तिगत उपभोग के लिए भी ऊर्जा का बेतहाशा दुरुपयोग करते हैं। इसलिए खपत के अनुपात में ऊर्जा कटौती की पहल भी इन्हीं देशों को करना चाहिए। विकासशील देशों की यह चिंता वाजिब है, क्योंकि वे यदि किसी प्रस्ताव के चलते ऊर्जा के प्रयोग पर अंकुश लगा देंगे तो उनकी समृद्ध होती अर्थव्यवस्था की बुनियाद ही दरक जाएगी। इसी मंशा के चलते दुनिया के एक चौथाई कार्बन का उत्सर्जन करने वाले अमेरिका ने क्योटो संधि से दूरी बनाए रखी और उसने कार्बन उत्सर्जन में मात्र 17 प्रतिशत की कमी करने का आश्वासन दिया था।

अंतर्राष्ट्रीय ऊर्जा संस्थान के अनुसार 2007 में विकसित राष्ट्रों की कार्बन उत्सर्जन में भूमिका अमेरिका 19.1, ऑस्ट्रेलिया 18.8 और कनाडा 17.4 मीट्रिक टन प्रति व्यक्ति थी। वहीं विकासशील देशों में चीन 4.6, भारत 1.2

और नेपाल की भूमिका 0.1 मीट्रिक टन प्रति व्यक्ति थी। चौथी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था वाला देश होने के बावजूद भारत में प्रति व्यक्ति कार्बन उत्सर्जन की दर विश्व की औसत दर से 70 फीसदी कम है और अमेरिका के मुकाबले यह 93 प्रतिशत नीचे है। वैसे भी 1990 से लेकर अब तक भारत में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में केवल 65 प्रतिशत का इज़ाफा हुआ है। 2020 तक यह दर बमुश्किल 70 प्रतिशत तक पहुंचने की उम्मीद है। यदि बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों से इसकी तुलना की जाए तो यह बहुत कम है। पृथ्वी का तापमान बढ़ाने के लिए औद्योगिक देश दोषी हैं।

बढ़ता तापमान जीवन के लिए एक भयावह संकट है। लिहाज़ा यह वक्त का तकाज़ा है कि मानव आबादी भू-मण्डल के खतरनाक एवं अपरिवर्तनीय हालातों का सामना करे, उससे पहले इस वैश्विक समस्या से एक चुनौती के रूप में निपटा जाए। इसलिए यह ज़रूरी है कि जिन देशों के पास अर्थ, ज्ञान और तकनीक की विरासत मौजूद है, वे इस थाती को मानवता की सुरक्षा के लिए उपलब्ध कराएं।

(स्रोत फीचर्स)

वर्ग पहेली 124 का हल

के	प	ल	र				गु	म
	ला		वा	ता	व	र	ण	
चा	श	नी		ला			न	
र्वा			ह	ब	ल		फ	
क	व	क				गै	ल	न
	ल		पी	प	ल			य
	या			रा		व	म	न
	का	ली	बं	ग	न		ग	
गि	र				म	हा	र	त